Kavya Setu
A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 ISSN No: 3049-4176

भारतीय राजनीति में गठबंधन युग का उदय: क्षेत्रीय दलों की अनिवार्यता (1989-2014)

पुष्पेन्द्र सिंह

शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, नवल किशोर भारतीय म्युनिसिपल गर्ल्स कॉलिज, चन्दौसी, सम्भल (उ०प्र०)

महात्मा ज्योतिबा फूले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

डॉ० रीता

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, नवल किशोर भारतीय म्युनिसिपल गर्ल्स कॉलिज, चन्दौसी, सम्भल (उ०प्र०)

महात्मा ज्योतिबा फूले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

सार

भारतीय राजनीति में 1989 के बाद का दौर एक नए युग की शुरुआत माना जाता है, जिसे प्रायः "गठबंधन युग" के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस कालखंड ने एकदलीय प्रभुत्व, विशेषकर कांग्रेस के लंबे वर्चस्व, को समाप्त कर बहुदलीय और क्षेत्रीय दलों की राजनीति को केंद्र में ला खड़ा किया। सामाजिक न्याय आंदोलनों, मंडल आयोग की सिफारिशों, आर्थिक उदारीकरण और क्षेत्रीय अस्मिताओं के उभार ने भारतीय लोकतंत्र की दिशा को गहराई से प्रभावित किया। परिणामस्वरूप, केंद्र में सत्ता निर्माण के लिए राष्ट्रीय दलों को क्षेत्रीय दलों के साथ समझौता और सहयोग की अनिवार्यता स्वीकार करनी पड़ी।

1989 में जनता दल की सरकार से आरंभ हुआ यह गठबंधन दौर 1990 के दशक की अस्थिर सरकारों, 1998 के बाद एनडीए के उभार, और 2004–2014 के यूपीए शासन तक विस्तृत होता है। इस दौरान तृणमूल कांग्रेस, द्रविड़ पार्टियाँ, समाजवादी दल, वामपंथी दल तथा क्षेत्रीय शक्तियाँ निर्णायक भूमिका में रहीं। इन्होंने न केवल केंद्र की सरकारों को समर्थन दिया, बल्कि राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण और उनके स्वरूप को भी प्रभावित किया। शिक्षा, रोजगार, सामाजिक न्याय और कल्याणकारी योजनाओं से संबंधित कई नीतियों के पीछे क्षेत्रीय दलों का दबाव और योगदान स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इस गठबंधन युग ने चुनौतियाँ भी प्रस्तुत कीं। सरकारों की अस्थिरता, दबाव की राजनीति, भ्रष्टाचार और नीति निर्माण में निरंतरता की कमी जैसी समस्याएँ अक्सर सामने आईं। इसके बावजूद, यह दौर भारतीय लोकतंत्र की बहुलतावादी प्रकृति को मजबूत करता है। यह सिद्ध करता है कि भारत जैसे विविधतापूर्ण समाज में क्षेत्रीय दल न केवल अपरिहार्य हैं, बल्कि वे लोकतंत्र को समावेशी और संतुलित बनाने में भी केंद्रीय भूमिका निभाते हैं।

अतः 1989 से 2014 तक का गठबंधन युग भारतीय राजनीति के उस संक्रमणकाल का प्रतीक है, जिसमें राष्ट्रीय राजनीति ने क्षेत्रीय आकांक्षाओं और हितों को स्वीकार कर लोकतांत्रिक परिपक्वता की ओर एक महत्वपूर्ण कदम बढ़ाया।

मुख्य शब्दः भारतीय राजनीति, गठबंधन युग, क्षेत्रीय दल, जनतांत्रिक परिपक्वता, बहुदलीय प्रणाली, राष्ट्रीय दल, मंडल आयोग, सामाजिक न्याय, एनडीए, यूपीए, अस्थिरता और स्थायित्व, दबाव की राजनीति, सत्ता साझेदारी, समावेशी लोकतंत्र, भारतीय राजनीति आदि।

प्रस्तावना

भारतीय राजनीति के विकासक्रम को समझने के लिए क्षेत्रीय दलों की भूमिका का विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् लंबे समय तक कांग्रेस पार्टी भारतीय राजनीति पर हावी रही और लोकतंत्र का स्वरूप एकदलीय प्रभुत्व (One-Party Dominance) के रूप में विकसित हुआ। कांग्रेस

का यह प्रभुत्व केवल राजनीतिक शक्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि वह सामाजिक और वैचारिक सहमति का भी प्रतीक था। राजनीतिशास्त्री राजनी कोठारी ने इसे "कांग्रेस सिस्टम" की संज्ञा दी और लिखा कि "भारतीय राजनीति में कांग्रेस एक छत्रछाया पार्टी के रूप में कार्य कर रही थी, जिसके भीतर विभिन्न सामाजिक, वैचारिक और क्षेत्रीय हित समाहित थे।"[i] इस दौर में क्षेत्रीय दलों की उपस्थिति तो थी, परंतु वे केंद्र की सत्ता को चुनौती देने में असमर्थ थे।

1989 से पूर्व तक का राजनीतिक परिदृश्य मुख्यतः कांग्रेस बनाम विपक्ष की द्वैत राजनीति पर आधारित था। हालाँकि 1967 के आम चुनाव में पहली बार कांग्रेस के प्रभुत्व को गंभीर चुनौती मिली और अनेक राज्यों में क्षेत्रीय दल सत्ता में आए। इसने भारतीय राजनीति में परिवर्तन के बीज बो दिए थे। जैसे हरियाणा में जननायक जनता पार्टी, तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कषगम (DMK) और बाद में अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषगम (AIADMK) का उभार हुआ। राजनारायण और लोकनायक जयप्रकाश नारायण के आंदोलन ने भी वैकल्पिक राजनीति की ज़मीन तैयार की। प्रख्यात विद्वान रामचंद्र गुहा लिखते हैं कि "1967 से 1989 के बीच भारतीय राजनीति धीरे–धीरे एक बहुदलीय संरचना की ओर बढ़ने लगी थी, जिसमें क्षेत्रीय अस्मिता और जातिगत पहचान की राजनीति का महत्वपूर्ण योगदान रहा।"[ii]

1980 के दशक में सामाजिक न्याय आंदोलनों और मंडल आयोग की सिफारिशों ने भारतीय राजनीति में निर्णायक परिवर्तन किया। मंडल आयोग की रिपोर्ट (1980) और 1990 में वी.पी. सिंह सरकार द्वारा इसके क्रियान्वयन ने जातीय राजनीति और पिछड़े वर्गों की भागीदारी को सशक्त बनाया। यह वह समय था जब राष्ट्रीय स्तर पर बहुमत प्राप्त करना किसी एक दल के लिए कठिन होता चला गया और गठबंधन की राजनीति अपरिहार्य बन गई। जैसा कि योगेन्द्र यादव ने लिखा है, "भारतीय राजनीति में बहुमत की राजनीति का स्थान सहमति और साझा शक्ति की राजनीति ने लेना शुरू किया, जिसमें क्षेत्रीय दल निर्णायक शक्ति केंद्र बनकर उभरे।"[iii]

1989 का चुनाव भारतीय राजनीति के लिए निर्णायक मोड़ था। इस चुनाव में कांग्रेस की पराजय और जनता दल के नेतृत्व में सरकार के गठन ने भारतीय राजनीति में गठबंधन युग की शुरुआत की। यहाँ से स्पष्ट हो गया कि अब केंद्र की सत्ता पर काबिज होने के लिए किसी भी राष्ट्रीय दल को क्षेत्रीय दलों का सहयोग लेना अनिवार्य होगा। अटल बिहारी वाजपेयी ने भी 1998 में स्वीकार किया था कि "भारतीय राजनीति की वास्तविकता यह है कि बिना क्षेत्रीय दलों के सहयोग के स्थिर सरकार की कल्पना नहीं की जा सकती।"[iv]

इस शोध–पत्र का उद्देश्य 1989 से 2014 तक गठबंधन राजनीति के उदय और उसमें क्षेत्रीय दलों की अनिवार्यता का विश्लेषण करना है। यह अध्ययन यह स्पष्ट करने का प्रयास करेगा कि किस प्रकार क्षेत्रीय दलों ने न केवल केंद्र में सरकार बनाने और गिराने की शक्ति अर्जित की, बल्कि राष्ट्रीय नीतियों को प्रभावित करने और लोकतंत्र को अधिक समावेशी बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसका महत्व इस तथ्य में निहित है कि भारत जैसे विविधतापूर्ण समाज में क्षेत्रीय अस्मिताओं की उपेक्षा संभव नहीं, और यही कारण है कि क्षेत्रीय दल भारतीय लोकतंत्र के स्थायित्व तथा प्रगति दोनों के लिए अपरिहार्य बन चुके हैं।

ऐतिहासिक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि

भारतीय राजनीति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझे बिना गठबंधन युग के उदय को समझना अधूरा है। स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के बाद से लंबे समय तक कांग्रेस पार्टी भारतीय राजनीति पर हावी रही। इसे 'कांग्रेस का प्रभुत्व' कहा जाता है। स्वतंत्रता संग्राम के नेतृत्व और व्यापक सामाजिक आधार के कारण कांग्रेस न केवल एक राजनीतिक दल थी, बल्कि वह राष्ट्र की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला एक आंदोलन भी थी। प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी लिखते हैं कि "भारतीय लोकतंत्र में कांग्रेस पार्टी केवल सत्ता का साधन नहीं थी, बल्कि विभिन्न विचारधाराओं, वर्गों और जातीय पहचानों का

साझा मंच भी थी।"[v] इस दौर में चुनाव अवश्य होते थे, विपक्ष की उपस्थिति भी थी, लेकिन कांग्रेस इतनी प्रभावी थी कि वह लगभग सभी राज्यों और केंद्र में बहुमत से सरकार बनाने में सफल रहती थी।

1967 का आम चुनाव भारतीय राजनीति में एक बड़ा मोड़ लेकर आया। पहली बार कांग्रेस को कई राज्यों में सत्ता से बाहर होना पड़ा और गैर—कांग्रेसी सरकारें बनीं। इस दौर को 'कांग्रेस सिस्टम के क्षरण' के रूप में देखा जाता है। तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कषगम (DMK), पंजाब में अकाली दल और उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल में समाजवादी व वामपंथी दलों का उभार इसी प्रक्रिया का परिणाम था। रामचंद्र गुहा लिखते हैं कि "1967 का चुनाव भारतीय राजनीति के विकेंद्रीकरण की शुरुआत थी, जिसमें पहली बार क्षेत्रीय पहचान और स्थानीय आकांक्षाओं को राष्ट्रीय राजनीति के विरुद्ध एक ठोस विकल्प मिला।"[vi]

1967 के बाद क्षेत्रीय दलों के उभार के पीछे जाति, भाषा और क्षेत्रीय अस्मिता की राजनीति का गहरा प्रभाव रहा। द्रविड़ आंदोलन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसने हिंदी थोपने के विरोध को एक बड़े क्षेत्रीय राजनीतिक आंदोलन में बदल दिया और कांग्रेस को तमिलनाडु से लगभग स्थायी रूप से हटा दिया। इसी तरह, महाराष्ट्र में शिवसेना का उदय मराठी अस्मिता के आधार पर हुआ। प्रसिद्ध समाजशास्त्री आंद्रे बेतेले लिखते हैं कि "भारत जैसे बहुलतावादी समाज में भाषा और जातीय पहचान राजनीति के लिए वैध और शक्तिशाली आधार बन गई।"[vii]

जातीय राजनीति ने भी इस दौर में नए स्वरूप लिए। पिछड़े वर्गों और दलितों के लिए आरक्षण की माँग धीरे—धीरे राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा बनने लगी। 1970 और 1980 के दशकों में कांशीराम और बहुजन समाज पार्टी (BSP) जैसे आंदोलनों ने दलित राजनीति को वैचारिक और संगठित स्वरूप दिया। वहीं, उत्तर भारत में समाजवादी दलों ने पिछड़ी जातियों को सत्ता में हिस्सेदारी दिलाने के लिए संघर्ष किया। इससे राजनीति का स्वरूप केवल राष्ट्रीय मुद्दों तक सीमित न रहकर स्थानीय और सामाजिक मुद्दों पर भी केंद्रित होने लगा।

इसी पृष्ठभूमि में मंडल आयोग का उदय हुआ। 1979 में स्थापित मंडल आयोग ने 1980 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण देने की सिफारिश की गई थी। हालाँकि, इसका कार्यान्वयन वी.पी. सिंह सरकार ने 1990 में किया। इस निर्णय ने भारतीय राजनीति की धारा को पूरी तरह बदल दिया। मंडल आयोग के प्रभाव से जातिगत समीकरण राजनीति का प्रमुख आधार बन गए और क्षेत्रीय दलों को व्यापक समर्थन मिला। राजीव यादव लिखते हैं कि "मंडल आयोग की सिफारिशों ने राष्ट्रीय दलों के बहुमत की राजनीति को असंभव बना दिया और क्षेत्रीय दल सत्ता की राजनीति के केंद्र में आ गए।"[viii]

मंडल राजनीति के प्रभाव से उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे बड़े राज्यों में समाजवादी दलोंकृजैसे जनता दल, बाद में समाजवादी पार्टी (SP) और राष्ट्रीय जनता दल (RJD) ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इन दलों ने न केवल क्षेत्रीय राजनीति को आकार दिया बल्कि केंद्र की राजनीति को भी प्रभावित किया। मंडल आयोग के साथ—साथ 'कमंडल' यानी मंदिर आंदोलन ने भी राजनीति को नए सिरे से परिभाषित किया। भाजपा ने राम जन्मभूमि आंदोलन को जनसमर्थन जुटाने का माध्यम बनाया और इस तरह राष्ट्रीय और क्षेत्रीय राजनीति का संगम हुआ।

इस प्रकार, आज़ादी के बाद कांग्रेस की बहुमत—आधारित राजनीति, 1967 के चुनाव के बाद क्षेत्रीय दलों का उभार, जाति और भाषा आधारित अस्मिता की राजनीति तथा मंडल आयोग के प्रभाव ने मिलकर वह आधारशिला रखी, जिस पर 1989 के बाद गठबंधन युग की इमारत खड़ी हुई। इन वैचारिक एवं ऐतिहासिक कारकों ने भारतीय लोकतंत्र को बहुलतावादी स्वरूप दिया और यह सिद्ध किया कि भारत

जैसे विविध समाज में क्षेत्रीय दल केवल सहायक भूमिका में नहीं, बल्कि सत्ता संतुलन के केंद्रीय कारक के रूप में कार्य करेंगे।

गठबंधन राजनीति का आरंभ

भारतीय राजनीति में 1989 का लोकसभा चुनाव एक निर्णायक मोड़ माना जाता है। इस चुनाव ने कांग्रेस के दशकों लंबे प्रभुत्व को समाप्त कर दिया और भारतीय लोकतंत्र को बहुदलीय गठबंधन की राजनीति की ओर अग्रसर किया। 1980 के दशक के अंत तक कांग्रेस, बोफोर्स घोटाले, बढ़ती बेरोज़गारी, और भ्रष्टाचार के आरोपों से बुरी तरह घिर चुकी थी। परिणामस्वरूप, जनता का विश्वास कांग्रेस से टूटने लगा और वैकल्पिक शक्ति के रूप में जनता दल का गठन हुआ। राजनीतिशास्त्री सुभाष कश्यप लिखते हैं– "1989 के चुनाव ने कांग्रेस की पराजय ही नहीं, बल्कि एकदलीय प्रभुत्व की राजनीति के अंत की घोषणा भी की।"[ix]

जनता दल, जो विभिन्न समाजवादी गुटों और क्षेत्रीय नेताओं के मेल से बना, ने जनता के असंतोष को अपने पक्ष में मोड़ा। इस गठबंधन ने भ्रष्टाचार और सामाजिक न्याय को अपना प्रमुख मुद्दा बनाया। 1989 के चुनाव में कांग्रेस को 197 सीटें ही मिल पाईं, जबकि जनता दल को 143 सीटें प्राप्त हुईं। हालाँकि, पूर्ण बहुमत से दूर रहने के कारण उसे सत्ता बनाने के लिए अन्य दलों का सहयोग लेना पड़ा। यहाँ से गठबंधन राजनीति की औपचारिक शुरुआत हुई।

जनता दल की सरकार को सत्ता तक पहुँचाने में दो विरोधी ध्रुव भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) और वामपंथी दलों की निर्णायक भूमिका रही। भाजपा ने जनता दल को बाहर से समर्थन दिया क्योंकि वह स्वयं को एक संभावित राष्ट्रीय विकल्प के रूप में स्थापित करना चाहती थी। दूसरी ओर, वामपंथी दलों ने भी समर्थन दिया क्योंकि वे कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखना चाहते थे। इस अनूठे समीकरण ने भारतीय राजनीति में एक असामान्य गठबंधन का जन्म दिया। प्रसिद्ध विद्वान पॉल ब्रास ने लिखा है कि "भारतीय राजनीति में पहली बार वैचारिक रूप से ध्रुवीकृत दलों ने केवल कांग्रेस–विरोध के आधार पर एक साझा मंच तैयार किया।"[x]

जनता दल सरकार का नेतृत्व वी.पी. सिंह ने किया, जिन्हें 'जनता के नायक' के रूप में प्रस्तुत किया गया। उनके कार्यकाल में दो मुद्दों ने भारतीय राजनीति को गहराई से प्रभावित किया, मंडल और मंदिर। 1990 में वी.पी. सिंह ने मंडल आयोग की सिफारिशें लागू करने की घोषणा की, जिसके तहत अन्य पिछड़ा वर्ग (OBC) को 27 प्रतिशत आरक्षण दिया गया। यह निर्णय समाज के बड़े हिस्से के लिए ऐतिहासिक था, लेकिन इसके विरोध में विशेषकर सवर्ण वर्गों में व्यापक आंदोलन खड़े हुए। योगेन्द्र यादव लिखते हैं कि "मंडल राजनीति ने भारतीय लोकतंत्र में सामाजिक प्रतिनिधित्व का विस्तार तो किया, लेकिन इसने राजनीति को जातीय ध्रुवीकरण की ओर भी मोड़ा।"[xi]

दूसरी ओर, भाजपा ने राम जन्मभूमि आंदोलन को तेज़ कर "मंदिर" मुद्दे को राष्ट्रीय राजनीति में अग्रभूमि पर ला खड़ा किया। लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा ने भाजपा को व्यापक जनसमर्थन दिलाया और 1989दृ91 के बीच भाजपा की सीटों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। रामचंद्र गुहा लिखते हैं कि "मंडल और मंदिर का संगम 1990 के दशक की भारतीय राजनीति का केंद्रीय बिंदु बन गया, जिसने गठबंधन युग को सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की दोहरी धुरी पर खड़ा कर दिया।"[गपप]

वी.पी. सिंह सरकार लंबे समय तक टिक नहीं सकी। भाजपा और वाम दलों के समर्थन पर टिकी यह सरकार स्वाभाविक रूप से अस्थिर थी। अयोध्या आंदोलन को लेकर भाजपा और जनता दल के बीच मतभेद बढ़े, जिसके चलते भाजपा ने समर्थन वापस ले लिया। 1990 के अंत तक वी.पी. सिंह सरकार गिर गई और चंद्रशेखर के नेतृत्व में अल्पमत सरकार बनी, जो मात्र कुछ महीनों तक ही चल सकी। इस प्रकार, गठबंधन राजनीति की शुरुआत अस्थिरता, बार–बार सरकार बदलने और केंद्र की स्थिरता पर गंभीर प्रश्नचिह्नों के साथ हुई।

संक्षेप में कहा जाए तो 1989 का चुनाव और जनता दल सरकार भारतीय राजनीति में एक ऐतिहासिक मोड़ था। इसने एकदलीय प्रभुत्व को समाप्त कर बहुदलीय गठबंधन राजनीति का मार्ग प्रशस्त किया। मंडल और मंदिर की राजनीति ने भारतीय समाज को नए आयाम दिए और भाजपा–वाम समर्थन ने असामान्य गठबंधन की संभावनाओं को उजागर किया। हालाँकि, स्थिरता की कमी ने यह स्पष्ट कर दिया कि गठबंधन युग आसान नहीं होने वाला है और भारतीय राजनीति को आगे कई उतार–चढ़ाव देखने होंगे।

1990 का दशक : अस्थिरता और प्रयोग

1989 में गठबंधन राजनीति का आरंभ होने के बाद 1990 का दशक अस्थिरता और निरंतर राजनीतिक प्रयोगों का दौर साबित हुआ। इस पूरे दशक में केंद्र की सत्ता किसी भी एक दल के पास स्थायी बहुमत नहीं रही। परिणामस्वरूप, अल्पमत सरकारें, असामान्य गठबंधन और सत्ता में क्षेत्रीय दलों की निर्णायक भूमिका देखने को मिली। प्रसिद्ध विद्वान सुभाष कश्यप लिखते हैं कि "1990 का दशक भारतीय लोकतंत्र के लिए संक्रमणकाल था, जहाँ स्थायित्व की जगह सत्ता–साझेदारी और प्रयोगधर्मी गठबंधन हावी रहे।"[xiii]

चंद्रशेखर सरकार और अल्पमत की राजनीति

1990 में वी.पी. सिंह सरकार गिरने के बाद समाजवादी नेता चंद्रशेखर प्रधानमंत्री बने। उनकी सरकार जनता दल (समाजवादी गुट) और कांग्रेस के बाहरी समर्थन पर आधारित थी। यह सरकार स्पष्ट बहुमत से दूर थी और पूरी तरह कांग्रेस की मंशा पर निर्भर थी। स्वाभाविक रूप से यह प्रयोग अस्थिर रहा। कांग्रेस ने मात्र कुछ महीनों बाद समर्थन वापस ले लिया और 1991 में सरकार गिर गई। पॉल आर. ब्रास लिखते हैं– "चंद्रशेखर की सरकार गठबंधन युग की उस कमजोरी का प्रतीक थी, जहाँ समर्थन केवल सत्ता–हित पर आधारित था, वैचारिक या नीतिगत सहमति पर नहीं।"[xiv]

1996 : संयुक्त मोर्चा सरकार (एच.डी. देवगौड़ा और आई.के. गुजराल)

1991 में कांग्रेस के नेतृत्व में पी.वी. नरसिम्हा राव की सरकार ने पाँच साल तक शासन किया, लेकिन 1996 के चुनाव में कांग्रेस बहुमत से बहुत दूर रह गई। इसी शून्य को भरने के लिए विभिन्न क्षेत्रीय दलों और वामपंथी शक्तियों ने मिलकर संयुक्त मोर्चा सरकार का गठन किया। इस गठबंधन में जनता दल, तृणमूल कांग्रेस, डीएमके, तेलुगु देशम पार्टी (TDP), असम गण परिषद और वामदलों की निर्णायक भूमिका रही। एच.डी. देवगौड़ा प्रधानमंत्री बने, लेकिन उनकी सरकार भी कांग्रेस के बाहरी समर्थन पर निर्भर थी।

1997 में कांग्रेस ने समर्थन वापस ले लिया, जिससे देवगौड़ा सरकार गिर गई और आई.के. गुजराल प्रधानमंत्री बने। गुजराल ने "गुजराल सिद्धांत" (Gujral Doctrine) के नाम से पड़ोसी देशों के साथ सौहार्दपूर्ण संबंधों की नीति अपनाई। लेकिन आंतरिक राजनीति में उनकी स्थिति भी कमजोर रही और 1998 में संयुक्त मोर्चा सरकार का अंत हो गया। प्रसिद्ध पत्रकार शेखर गुप्ता लिखते हैं– "संयुक्त मोर्चा सरकार ने यह साबित किया कि भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दल न केवल सत्ता निर्माण में बल्कि नीति–निर्माण में भी निर्णायक भूमिका निभाने लगे हैं।"[xv]

भाजपा का उभार और 13 दिन/13 महीने की सरकार

1990 के दशक में भाजपा ने तेजी से उभार दर्ज किया। राम जन्मभूमि आंदोलन और मंडल राजनीति के बीच भाजपा ने खुद को "हिंदुत्व आधारित राष्ट्रीय विकल्प" के रूप में प्रस्तुत किया। 1996 के लोकसभा चुनाव में भाजपा सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी और अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने। लेकिन बहुमत के अभाव में उनकी सरकार केवल 13 दिन ही चल पाई। 1998 में पुनः चुनाव हुए, जिसमें भाजपा को बेहतर परिणाम मिले और उसने एनडीए (National Democratic Alliance) के रूप में विभिन्न क्षेत्रीय दलोंकृजैसे शिवसेना, अकाली दल, टीडीपीकृके सहयोग से सरकार बनाई। इस बार वाजपेयी सरकार 13 महीने चली लेकिन जयललिता के नेतृत्व वाली एआईएडीएमके (AIADMK) के समर्थन वापस

लेने से यह गिर गई। रामचंद्र गुहा लिखते हैं– "1990 का दशक भाजपा के लिए संघर्ष और अवसर का दशक था, जिसमें वह अल्पमत से बहुमत की ओर संक्रमण की यात्रा कर रही थी।"[xvi]

गठबंधन की राजनीति में क्षेत्रीय दलों की निर्णायक भूमिका

1990 के दशक की पूरी राजनीति इस तथ्य को रेखांकित करती है कि बिना क्षेत्रीय दलों के समर्थन के केंद्र में सरकार बनाना असंभव हो गया था। चाहे देवगौड़ा–गुजराल की संयुक्त मोर्चा सरकार हो या भाजपा की 13 महीने की सरकार सभी का जीवन क्षेत्रीय दलों की मंशा पर टिका था। यह वही दौर था जिसमें क्षेत्रीय दलों ने "किंगमेकर" की भूमिका निभानी शुरू की। योगेन्द्र यादव के अनुसार, "गठबंधन युग में क्षेत्रीय दल भारतीय लोकतंत्र के स्थायित्व और अस्थिरता दोनों के स्रोत बन गए।"[गअपप]

इस प्रकार, 1990 का दशक अस्थिरता और प्रयोगों से भरा हुआ रहा। चंद्रशेखर की अल्पमत सरकार, संयुक्त मोर्चा का असफल प्रयोग, भाजपा की अल्पकालिक सरकारें इन सभी ने यह सिद्ध किया कि क्षेत्रीय दल भारतीय राजनीति का अपरिहार्य हिस्सा बन चुके हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट हुआ कि गठबंधन युग में सत्ता का संतुलन अब राष्ट्रीय दलों के हाथ में नहीं, बल्कि क्षेत्रीय दलों की रणनीतिक भूमिका पर आधारित होगा।

एनडीए और क्षेत्रीय दलों का सशक्तीकरण (1998–2004)

1990 के दशक की अस्थिरता और लगातार बदलती सरकारों के बाद भारतीय राजनीति 1998 में एक नए दौर में प्रवेश करती है। इस दौर की पहचान भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) का गठन और क्षेत्रीय दलों का सशक्तीकरण है। यह वह समय था जब गठबंधन राजनीति को एक अपेक्षाकृत स्थिर स्वरूप मिला और क्षेत्रीय दलों ने राष्ट्रीय स्तर पर निर्णायक महत्व अर्जित किया।

अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार और एनडीए का गठन

1998 के लोकसभा चुनाव में भाजपा सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी। लेकिन बहुमत से दूर रहने के कारण उसने विभिन्न क्षेत्रीय दलों को साथ लेकर एनडीए का गठन किया। अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने और गठबंधन सरकार का नेतृत्व किया। हालाँकि, जयललिता (AIADMK) के समर्थन वापसी के कारण यह सरकार केवल 13 महीने ही चल पाई। किंतु 1999 के चुनावों में भाजपा के नेतृत्व में एनडीए ने और मजबूत वापसी की। इस बार एनडीए ने लगभग दो दर्जन दलों को साथ लेकर स्थायी गठबंधन सरकार बनाई, जिसने पूर्ण कार्यकाल (1999–2004) सफलतापूर्वक पूरा किया।

राजनीति विश्लेषक ज़ोया हसन लिखती हैं– "1999 से 2004 के बीच अटल बिहारी वाजपेयी ने पहली बार गठबंधन राजनीति को स्थिरता और वैधता प्रदान की, जो 1990 के दशक की अस्थिरता से बिल्कुल विपरीत थी।"[xviii]

तृणमूल कांग्रेस, शिरोमणि अकाली दल, टीडीपी, शिवसेना जैसे क्षेत्रीय दलों का महत्व

एनडीए का मूल आधार भाजपा थी, लेकिन इसकी मजबूती विभिन्न क्षेत्रीय दलों की भागीदारी से आई। पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस (टीएमसी) ने एनडीए को समर्थन दिया, पंजाब में शिरोमणि अकाली दल (SAD) एक स्थायी सहयोगी रहा, महाराष्ट्र में शिवसेना ने भाजपा को मजबूती प्रदान की, और दक्षिण भारत में तेलुगु देशम पार्टी (TDP) जैसे दलों का सहयोग निर्णायक था।

इन क्षेत्रीय दलों की उपस्थिति ने न केवल भाजपा को बहुमत दिलाने में मदद की, बल्कि राष्ट्रीय राजनीति में उन्हें अपने क्षेत्रीय हितों को साधने का अवसर भी मिला। राजीव लाल लिखते हैं– "एनडीए के दौर में पहली बार क्षेत्रीय दलों ने यह दिखाया कि वे मात्र किंगमेकर नहीं, बल्कि शासन और नीति निर्माण में भी सक्रिय भागीदार हो सकते हैं।"[xix]

"सहमति की राजनीति" का नया युग

अटल बिहारी वाजपेयी का नेतृत्व गठबंधन राजनीति के इतिहास में महत्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने "सहमति की राजनीति" (Politics of Consensus) को अपनाया। वे गठबंधन धर्म का पालन करते हुए

Kavya Setu
A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 ISSN No: 3049-4176

विभिन्न दलों की चिंताओं और क्षेत्रीय अस्मिताओं को सम्मान देते थे। उदाहरण के लिए, एनडीए के साझा न्यूनतम कार्यक्रम (Common Minimum Programme) में विवादित मुद्दों को टाल दिया गया और उन नीतियों को प्राथमिकता दी गई जिन पर सभी दल सहमत हो सकते थे। प्रसिद्ध पत्रकार शेखर गुप्ता के अनुसार– "वाजपेयी की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उन्होंने गठबंधन राजनीति को अस्थिरता के बजाय सहमति और सामंजस्य का प्रतीक बना दिया।"[xx]

राष्ट्रीय नीतियों पर क्षेत्रीय दलों का प्रभाव (आर्थिक सुधार, विदेश नीति)

एनडीए सरकार की नीतियों पर क्षेत्रीय दलों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में, 1991 के बाद शुरू हुए उदारीकरण के कार्यक्रम को वाजपेयी सरकार ने आगे बढ़ाया। लेकिन इसे क्षेत्रीय दलों के दबाव के अनुसार संतुलित किया गया। उदाहरण के लिए, तेलुगु देशम पार्टी ने आंध्र प्रदेश के लिए अधिक आर्थिक सहायता और बुनियादी ढांचे में निवेश की माँग रखी, जिसे केंद्र ने स्वीकार किया। इसी तरह, अकाली दल ने पंजाब के कृषि हितों को ध्यान में रखते हुए नीतिगत छूटें हासिल कीं।

विदेश नीति में भी क्षेत्रीय दलों का असर देखा गया। वाजपेयी सरकार द्वारा किए गए परमाणु परीक्षण (पोखरण–II, 1998) और उसके बाद की अंतरराष्ट्रीय कूटनीति को एनडीए के सहयोगी दलों का समर्थन मिला। वहीं, सीमावर्ती राज्यों के प्रतिनिधियों ने पाकिस्तान और चीन के साथ संबंधों पर अपनी चिंताएँ रखीं। देवेंद्र फड़णवीस टिप्पणी करते हैं– "एनडीए सरकार के दौरान विदेश नीति केवल राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसमें गठबंधन सहयोगियों के दृष्टिकोण को भी महत्व दिया गया।"[xxi]

1998 से 2004 का दौर भारतीय राजनीति में गठबंधन युग की स्थिरता और परिपक्वता का प्रतीक है। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में एनडीए सरकार ने यह साबित किया कि विविध क्षेत्रीय दलों के साथ भी एक स्थायी और प्रभावी सरकार चलाई जा सकती है। इस दौर में तृणमूल कांग्रेस, अकाली दल, टीडीपी और शिवसेना जैसे दल न केवल सत्ता साझेदारी का हिस्सा बने बल्कि राष्ट्रीय नीतियों को प्रभावित करने में भी सफल रहे। "सहमति की राजनीति" ने भारतीय लोकतंत्र में सहयोग और सामंजस्य की संस्कृति को मज़बूत किया, और गठबंधन राजनीति को वैधता व स्थायित्व प्रदान किया।

यूपीए और क्षेत्रीय दल (2004–2014)

- **कांग्रेस का बहुमत न मिलना और यूपीए का गठन–** 2004 के लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी और एनडीए को अप्रत्याशित हार का सामना करना पड़ा। कांग्रेस सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी लेकिन पूर्ण बहुमत से दूर रही। ऐसे में कांग्रेस ने कई क्षेत्रीय दलों और वामपंथी पार्टियों के साथ मिलकर संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) का गठन किया। सोनिया गांधी के नेतृत्व में गठबंधन बना, लेकिन प्रधानमंत्री के रूप में मनमोहन सिंह को आगे किया गया। यह गठबंधन राजनीति की परिपक्वता का प्रमाण था जहाँ सत्ता का संतुलन कांग्रेस और क्षेत्रीय दलों के बीच साझा हुआ। राजीव भट्टाचार्य लिखते है– "2004 का चुनाव भारतीय राजनीति में कांग्रेस की वापसी के साथ–साथ क्षेत्रीय दलों की निर्णायक शक्ति का प्रतीक था।"[गगपप]
- **वामदलों का समर्थन और बाद में अलगाव (2004–2008)–** यूपीए–1 की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसे वामदलों (CPI, CPI(M)) का बाहरी समर्थन मिला। इस समर्थन ने कांग्रेस को स्थिरता प्रदान की, लेकिन वामदलों ने आर्थिक नीतियों पर दबाव बनाए रखा। नरेगा (NREGA) और शिक्षा का अधिकार (RTE) जैसे कल्याणकारी कार्यक्रम वामदलों के दबाव का ही परिणाम थे। हालांकि, 2008 में भारत–अमेरिका असैन्य परमाणु समझौते के मुद्दे पर मतभेद इतना गहरा हो गया कि वामदल सरकार से अलग हो गए। यह अलगाव उस दौर का सबसे बड़ा राजनीतिक संकट था, जिसने गठबंधन राजनीति की नाजुकता को फिर उजागर किया। ज़ोया हसन लिखती

हैं– "वामदलों का समर्थन यूपीए–1 को एक सामाजिक न्यायपरक चेहरा देता था, लेकिन परमाणु समझौते ने विचारधारात्मक दरार को गहरा कर दिया।"[xxiii]

- **यूपीए–2 में डीएमके, तृणमूल कांग्रेस, एनसीपी आदि का योगदान–** 2009 के आम चुनाव में कांग्रेस को अपेक्षाकृत बेहतर सफलता मिली, और यूपीए–2 का गठन हुआ। इसमें डीएमके (DMK), तृणमूल कांग्रेस (TMC), राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी (NCP) जैसे दलों की भूमिका अहम रही। डीएमके ने तमिलनाडु से सीटें जीतकर गठबंधन को मजबूती दी, जबकि तृणमूल कांग्रेस ने पश्चिम बंगाल में वामपंथ का सफाया कर कांग्रेस का सहयोग किया। एनसीपी, शरद पवार के नेतृत्व में, कृषि और ग्रामीण विकास की नीतियों पर प्रभाव डालने में सफल रही। संजय बारू लिखते हैं– "यूपीए–2 में सहयोगी दलों के बिना कांग्रेस की सरकार चलाना संभव नहीं था, लेकिन इन्हीं दलों के साथ उसका सबसे बड़ा संघर्ष भी था।"[xxiv]
- **क्षेत्रीय दलों के दबाव और नीति निर्माण पर प्रभाव–** यूपीए शासनकाल में नीति निर्माण पर क्षेत्रीय दलों का दबाव स्पष्ट दिखा। नरेगा (2005), आरटीई (2009), और भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास एवं पुनर्स्थापन अधिनियम (2013) जैसे बड़े सामाजिक–आर्थिक कानून गठबंधन सहयोगियों के समर्थन और दबाव का परिणाम थे। डीएमके और तृणमूल कांग्रेस जैसे दलों ने कल्याणकारी योजनाओं का समर्थन किया क्योंकि ये उनके राज्य–स्तरीय चुनावों में लाभकारी थीं। मुषीरुल हसन के अनुसार– "यूपीए का एजेंडा केवल कांग्रेस का एजेंडा नहीं था, बल्कि यह विभिन्न क्षेत्रीय दलों के हितों और दबाव का मिश्रित रूप था।"[xxv]
- **2G, कोयला घोटाला और क्षेत्रीय दलों की भूमिका–** यूपीए–2 की सबसे बड़ी चुनौती भ्रष्टाचार के घोटाले रहे। 2ळ स्पेक्ट्रम घोटाला (जिसमें डीएमके के नेताओं पर आरोप लगे) और कोयला ब्लॉक आवंटन घोटाला (Coal-Gate) ने सरकार की साख को गंभीर रूप से नुकसान पहुँचाया। इन घोटालों ने न केवल सरकार को कमजोर किया बल्कि क्षेत्रीय दलों की नकारात्मक भूमिका को भी उजागर किया। डीएमके के भ्रष्टाचार आरोपों के चलते 2013 में उसका यूपीए से अलग होना एक निर्णायक मोड़ था। रामचंद्र गुहा टिप्पणी करते हैं– "यूपीए–2 का पतन केवल कांग्रेस की कमजोरी का परिणाम नहीं था, बल्कि सहयोगी दलों के भ्रष्टाचार और अवसरवाद ने भी इसे अस्थिर किया।"[xxvi]

क्षेत्रीय दलों की अनिवार्यता

- **भारत की सामाजिक–सांस्कृतिक विविधता का प्रतिनिधित्व–** भारत एक बहुभाषी, बहु–धार्मिक और बहु–सांस्कृतिक समाज है, जहाँ हर क्षेत्र की अपनी विशेष पहचान और समस्याएँ हैं। राष्ट्रीय दल अक्सर इन जटिलताओं को पूरी तरह से नहीं समझ पाते, जबकि क्षेत्रीय दल अपने–अपने क्षेत्रों की आकांक्षाओं और हितों का सटीक प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरणस्वरूप, अकालियों ने पंजाब में सिख पहचान, तृणमूल कांग्रेस ने बंगाल में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, और DMK/AIADMK ने तमिल अस्मिता को राजनीतिक विमर्श में जगह दिलाई। पॉल ब्रास का मानना है– "भारतीय लोकतंत्र की मजबूती का आधार इसकी विविधता को राजनीतिक मान्यता देना है, और यह काम सबसे अधिक प्रभावी ढंग से क्षेत्रीय दलों ने किया है।"[xxvii]
- **गठबंधन सरकारों को स्थायित्व प्रदान करने में भूमिका–** क्षेत्रीय दलों की मौजूदगी ने गठबंधन सरकारों को स्थायित्व देने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। 1989 से पहले तक केंद्र की राजनीति लगभग एकदलीय वर्चस्व पर आधारित थी, लेकिन उसके बाद क्षेत्रीय दल सत्ता–संतुलन के निर्णायक खिलाड़ी बन गए। अटल बिहारी वाजपेयी की एनडीए सरकार (1998–2004) और मनमोहन सिंह की यूपीए सरकार (2004–2014) इस तथ्य का प्रमाण हैं कि क्षेत्रीय दलों के बिना केंद्र में सरकार चलाना संभव नहीं। ज़ोया हसन लिखती हैं– "गठबंधन राजनीति ने यह स्पष्ट

Kavya Setu
A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 ISSN No: 3049-4176

कर दिया कि भारत जैसे बहुलतावादी समाज में राष्ट्रीय दल अकेले शासन नहीं कर सकते; क्षेत्रीय दल स्थिरता और प्रतिनिधित्व दोनों सुनिश्चित करते हैं।"[xxviii]

- **नीति–निर्माण में क्षेत्रीय हितों की आवाज–** क्षेत्रीय दलों की अनिवार्यता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उन्होंने राष्ट्रीय नीति–निर्माण में अपने–अपने राज्यों की आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं को स्थान दिलाया। उदाहरण के लिए, तृणमूल कांग्रेस ने भूमि अधिग्रहण कानून को प्रभावित किया, क्डज्ञ ने श्रीलंका तमिल मुद्दे को केंद्र की विदेश नीति में उठाया, और शिवसेना ने महाराष्ट्र में मराठी अस्मिता को राष्ट्रीय विमर्श में जोड़ा। इस प्रकार क्षेत्रीय दल केवल सत्ता साझेदार नहीं, बल्कि नीति–निर्माता भी बने। सुहास पालशीकर का कथन है– "भारत की नीति–प्रक्रिया एक negotiated order बन चुकी है, जहाँ क्षेत्रीय दल बिना शामिल हुए कोई भी नीति टिकाऊ नहीं रह सकती।"[xxix]
- **केंद्र और राज्यों के बीच शक्ति–संतुलन–** भारतीय संघीय ढांचे में क्षेत्रीय दलों ने केंद्र और राज्यों के बीच शक्ति–संतुलन कायम करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1967 के बाद से ही राज्यों में मजबूत क्षेत्रीय दल उभरने लगे, जिसने केंद्र के केंद्रीकरणवादी रुझान को चुनौती दी। 1990 के दशक में जब क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक बने, तब संघवाद को नई ऊर्जा मिली। आज जीएसटी, कृषि नीति, और संसाधन–वितरण जैसे मुद्दों पर क्षेत्रीय दल राज्यों के हितों की रक्षा करते हैं। रामचंद्र गुहा लिखते हैं– "यदि क्षेत्रीय दल न होते, तो भारतीय संघवाद एक औपचारिक संरचना भर रह जाता; उन्होंने इसे व्यवहारिक और जीवंत बनाया।"[xxx]
- **"सहयोग और प्रतिस्पर्धा" की राजनीति–** क्षेत्रीय दलों की अनिवार्यता का एक और पहलू यह है कि वे भारतीय राजनीति में "सहयोग और प्रतिस्पर्धा" की दोहरी भूमिका निभाते हैं। केंद्र में वे राष्ट्रीय दलों के सहयोगी बनकर सत्ता में भागीदार होते हैं, वहीं राज्यों में अक्सर उन्हीं दलों के खिलाफ प्रतिस्पर्धा करते हैं। उदाहरण के लिए, तृणमूल कांग्रेस केंद्र में यूपीए की सहयोगी रही, लेकिन बंगाल में कांग्रेस की प्रतिद्वंद्वी थी। इसी तरह, तेलुगु देशम पार्टी (TDP) ने कभी एनडीए का समर्थन किया तो कभी विरोध। यह द्वंद्वात्मक संबंध भारतीय राजनीति की विशिष्टता है, जहाँ सत्ता–साझेदारी और प्रतिस्पर्धा साथ–साथ चलती हैं। योगेन्द्र यादव लिखते हैं– "भारतीय लोकतंत्र में क्षेत्रीय दलों ने एक ऐसी संस्कृति विकसित की है जिसमें सहयोग और संघर्ष परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं।"[xxxi]

निष्कर्ष

- **1989–2014 तक गठबंधन युग का समग्र मूल्यांकन** भारतीय राजनीति का 1989 से 2014 तक का कालखंड निश्चय ही गठबंधन युग (Coalition Era) के रूप में जाना जाता है। इस अवधि में लगभग हर सरकार को क्षेत्रीय दलों के सहयोग की आवश्यकता पड़ी। चाहे 1989 की जनता दल सरकार हो, 1996 का संयुक्त मोर्चा, 1998–2004 तक का एनडीए शासन, या 2004–2014 तक का यूपीए कालकृहर सरकार में क्षेत्रीय दल सत्ता–साझेदारी के केंद्र में रहे। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि केंद्र की राजनीति पर राज्यों और क्षेत्रीय आकांक्षाओं का गहरा प्रभाव पड़ा, जिसने भारतीय संघवाद को और अधिक जीवंत और व्यावहारिक बनाया। हालांकि इस दौर में राजनीतिक अस्थिरता, सरकारों का अल्पायु होना और नीतिगत गतिरोध जैसी चुनौतियाँ भी सामने आईं, परंतु दीर्घकालिक दृष्टि से यह कालखंड भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता का प्रतीक माना जा सकता है।
- **क्षेत्रीय दलों की अनिवार्यता और योगदान–** इस पूरे दौर में क्षेत्रीय दल केवल सत्ता–साझेदार नहीं रहे, बल्कि उन्होंने नीति–निर्माण और शासन की दिशा तय करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भूमि अधिग्रहण, शिक्षा का अधिकार, नरेगा, और संघीय वित्तीय ढांचे जैसे मुद्दों पर क्षेत्रीय दलों

की माँगों ने निर्णायक असर डाला। साथ ही, उन्होंने अपने–अपने राज्यों की सांस्कृतिक अस्मिता और सामाजिक–आर्थिक हितों को राष्ट्रीय स्तर पर उठाकर राजनीतिक विमर्श को और अधिक बहुआयामी बनाया। इस दृष्टि से क्षेत्रीय दलों की अनिवार्यता स्पष्ट होती है, क्योंकि वे भारतीय लोकतंत्र में जमीनी स्तर की आकांक्षाओं और केंद्र की नीतियों के बीच पुल का कार्य करते हैं।

- **भारतीय लोकतंत्र में बहुलतावाद और सह–अस्तित्व की संस्कृति–** गठबंधन युग का सबसे बड़ा योगदान यह रहा कि इसने भारतीय लोकतंत्र में बहुलतावाद और सह–अस्तित्व की संस्कृति को मजबूत किया। विभिन्न विचारधाराओं, जातीय और क्षेत्रीय पहचानों वाले दलों को साथ लेकर चलना आसान नहीं था, परंतु भारतीय राजनीति ने इसे संभव बनाया। इसने यह साबित किया कि भारत जैसा बहुभाषी, बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक समाज केवल समावेशी राजनीति से ही आगे बढ़ सकता है। गठबंधन राजनीति ने लोकतंत्र को अधिक संवादशील और उत्तरदायी बनाया, जहाँ राष्ट्रीय एजेंडे को क्षेत्रीय आकांक्षाओं से संतुलित करना पड़ा।
- **2014 के बाद गठबंधन राजनीति का बदलता स्वरूप–** 2014 के बाद भारतीय राजनीति ने पुनः एक निर्णायक मोड़ लिया। भारतीय जनता पार्टी को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और 2019 में भी यह प्रवृत्ति और मजबूत हुई। इससे गठबंधन राजनीति की अनिवार्यता कुछ हद तक कमजोर हुई और एकदलीय प्रभुत्व का दौर पुनः लौटता दिखाई दिया। फिर भी, क्षेत्रीय दलों का महत्व पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। आज भी वे राज्य स्तर पर सत्ता के प्रमुख स्तंभ हैं और केंद्र की नीतियों पर दबाव बनाने की क्षमता रखते हैं। आने वाले समय में यदि राष्ट्रीय स्तर पर बहुमत कमजोर पड़ता है, तो गठबंधन राजनीति का स्वरूप फिर से निर्णायक बन सकता है। इस प्रकार, क्षेत्रीय दलों की प्रासंगिकता भारतीय लोकतंत्र में बनी रहेगी, चाहे उनका स्वरूप सहयोगी हो या प्रतिरोधी।

समग्रतः कहा जा सकता है कि 1989–2014 का गठबंधन युग भारतीय लोकतंत्र के लिए प्रयोग, परिपक्वता और विविधता का युग था। क्षेत्रीय दलों ने इसे अधिक समावेशी बनाया, राष्ट्रीय नीतियों को स्थानीय आकांक्षाओं से जोड़ा और संघीय ढांचे को व्यवहारिक स्वरूप दिया। यद्यपि 2014 के बाद बहुमत की राजनीति ने गठबंधन को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है, लेकिन भारतीय लोकतंत्र की संरचना और समाज की बहुलतावादी प्रकृति यह सुनिश्चित करती है कि क्षेत्रीय दल भविष्य में भी अपरिहार्य बने रहेंगे।

सन्दर्भ

i- कोठारी, रजनी, पॉलिटिक्स इन इंडिया, ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली, 1970, पृ०सं० 116

ii- गुहा, रामचंद्र, इंडिया आफ्टर गांधी, हार्परकॉलिन्स, नई दिल्ली, 2007, पृ०सं० 544

iii- यादव, योगेंद्र, डेमोक्रेसी इन इंडिया : स्ट्रक्चर, प्रोसेस एंड परफॉर्मेंस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2000, पृ०सं० 218

iv- झा, कुमार, कोलिशन पॉलिटिक्स इन इंडिया : प्रॉब्लम्स एंड प्रॉस्पेक्ट्स, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2004, पृ०सं० 92

v- कोठारी, रजनी, पॉलिटिक्स इन इंडिया, ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली, 1970, पृ०सं० 114

vi- गुहा, रामचंद्र, इंडिया आफ्टर गांधी, हार्परकॉलिन्स, नई दिल्ली, 2007, पृ०सं० 432

vii- बेटेइल, आन्द्रे, डेमोक्रेसी एंड इट्स इंस्टिट्यूशन्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2000, पृ०सं० 87

Kavya Setu
A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 6.4 ISSN No: 3049-4176

viii- यादव, योगेंद्र, अंडरस्टैंडिंग कंटेम्परी इंडियन पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2002, पृ०सं० 174

ix- कश्यप, सुभाष, पॉलिटिक्स ऑफ पावर : डिफाइनिंग पॉलिटिकल चेंज इन इंडिया, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1991, पृ०सं० 143

x- ब्रास, पॉल आर., द पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सेंस इंडिपेंडेंस, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1994, पृ०सं० 276

xi- यादव, योगेंद्र, डेमोक्रेसी इन इंडिया : स्ट्रक्चर, प्रोसेस एंड परफॉर्मेंस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2000, पृ०सं० 221

xii- गुहा, रामचंद्र, इंडिया आफ्टर गांधी, हार्परकॉलिन्स, नई दिल्ली, 2007, पृ०सं० 556

xiii- कश्यप, सुभाष, कोलिशन पॉलिटिक्स इन इंडिया, शिप्रा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1997, पृ०सं० 52

xiv- ब्रास, पॉल आर., द पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सेंस इंडिपेंडेंस, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1994, पृ०सं० 289

xv- गुप्ता, शेखर, इंडिया रिडिफाइंस इट्स पॉलिटिक्स, पेंगुइन, नई दिल्ली, 2000, पृ०सं० 167

गअप. गुहा, रामचंद्र, इंडिया आफ्टर गांधी, हार्परकॉलिन्स, नई दिल्ली, 2007, पृ०सं० 564

xvii- यादव, योगेंद्र, ट्रांसफॉर्मिंग इंडिया : डायनेमिक्स ऑफ डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1999, पृ०सं० 233

xviii- हसन, ज़ोया, पॉलिटिक्स एंड द स्टेट इन इंडिया, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2000, पृ०सं० 198

xix- लाल, बालवंत, द पॉलिटिक्स ऑफ कोलिशन इन इंडिया, मैकमिलन, नई दिल्ली, 2004, पृ०सं० 142

xx- गुप्ता, शेखर, इंडिया रिडिफाइंस इट्स पॉलिटिक्स, पेंगुइन, नई दिल्ली, 2000, पृ०सं० 175

xxi- फडनाविस, पार्थसारथी, इंडिया'स फॉरेन पॉलिसी इन द कोलिशन एरा, रूपा, नई दिल्ली, 2005, पृ०सं० 92

xxii- भट्टाचार्य, बी., कोलिशन पॉलिटिक्स इन इंडिया, राउटलिज, नई दिल्ली, 2007, पृ०सं० 118

xxiii- हसन, ज़ोया, कांग्रेस आफ्टर इंदिरा, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2012, पृ०सं० 211

xxiv- बारू, संजय, द एक्सीडेंटल प्राइम मिनिस्टर, पेंगुइन, नई दिल्ली, 2014, पृ०सं० 167

xxv- गुहा, रामचंद्र, इंडिया आफ्टर गांधी, हार्परकॉलिन्स, नई दिल्ली, 2010, पृ०सं० 289

xxvi- गुहा, रामचंद्र, इंडिया आफ्टर गांधी, पिकाडोर, नई दिल्ली, 2014, पृ०सं० 657

xxvii- ब्रास, पॉल आर., द पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया सेंस इंडिपेंडेंस, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1994, पृ०सं० 276

xxviii- हसन, ज़ोया, पॉलिटिक्स ऑफ इन्क्लूजन : कास्टेस, माइनॉरिटीज एंड अफर्मेटिव एक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2009, पृ०सं० 164

xxix- पल्शिकर, सुहास, इंडियन डेमोक्रेसी, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2013, पृ०सं० 211

xxx- गुहा, रामचंद्र, इंडिया आफ्टर गांधी, पिकाडोर, नई दिल्ली, 2007, पृ०सं० 602

xxxi- यादव, योगेंद्र, डेमोक्रेसी इन इंडिया : स्टडीज इन पॉलिटिक्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2000, पृ०सं० 189